

पूज्य लालचंदभाई का प्रवचन

श्री समयसार, गाथा ३१, ता. ७-४-१९८९

भिंड, प्रवचन नंबर P१३

ये समयसार जी परमागम शास्त्र है। इसकी ३१ नम्बर की गाथा है। अनंत-अनंतकाल बीते, भूतकाल की बात है। उसके पास, अज्ञानी की पर्याय में उत्पन्न तो होता है उपयोग, मगर जब उपयोग लक्षण उत्पन्न होता है, तब वो उपयोग का लक्ष्य, द्रव्येंद्रिय पर जाता है क्योंकि जैसे इन्द्रियज्ञान, भावेन्द्रिय, ऐसे द्रव्येंद्रिय भी साथ में अनंतकाल से है। शरीर परिणाम को प्राप्त यानि शरीर का नोकर्म का एक भाग, पार्ट, उसका नाम द्रव्येंद्रिय है और द्रव्येंद्रिय के लक्ष्य से जो ज्ञान उपयोग होता है, उसका नाम भावेन्द्रिय है। प्रगट तो होता है उपयोग। अंदर में से भावेन्द्रिय नहीं आती है। जैसे अंदर में से राग नहीं आता है, भगवान आत्मा राग की खान नहीं है। ऐसे अतीन्द्रिय ज्ञानमयी भगवान आत्मा अतीन्द्रियज्ञान का कंद है, भावेन्द्रिय का कंद नहीं है। तो जो भावेन्द्रिय प्रगट होती है, उसका मूल कारण तो, उपयोग प्रगट होता है और उपयोग का दुरुपयोग करता है, तो भावेन्द्रिय बन जाती है। और उपयोग का सदुपयोग करे तो अतीन्द्रियज्ञान हो जाता है।

उपयोग तो सामान्य प्रगट होता है, सबको। समय एक है। पहले समय में उपयोग प्रगट होता है और दूसरे समय में भावेन्द्रिय बन जाती है, ऐसा नहीं है। एक समय में जब उपयोग प्रगट होता है, उस ही समय में, उसका लक्ष्य पर (द्रव्य) पर जाता है, कर्म-नोकर्म पर जाता है, तो उपयोग का दुरुपयोग हो गया, तो भावेन्द्रिय हो गई और भावेन्द्रिय से जो पर को जानता है, तो उसमें अपनापन कर लेता है, वो भावेन्द्रिय का धर्म है। धर्म यानि आदत। धर्म यानि आदत। आहाहा! उसको आदत ही है कि जिसको जाने उसको अपना मानता ही है, माने बिना रहता नहीं है।

तो जब कोई ज्ञानी उसको मिलता है, समर्थ आचार्य, ऐसी ३१वीं गाथा सामने आवे, उसको कहें कि तू भावेन्द्रिय को जीत ले। भावेन्द्रिय को जीतने से मोह का क्षय हो जाता है, मिथ्यात्व का नाश हो जाता है, संसार का अभाव हो जाता है। एक समय में संसार, पूर्व पर्याय में संसार था, इन्द्रियज्ञान और इन्द्रियज्ञान, क्रोधादि को जानते समय क्रोध मेरा, ऐसा मानता था, पूर्व पर्याय तक। मगर जब इन्द्रियज्ञान को जीतने की कला (आ गई), कोई जीव को, तो नैसर्गिक अपने आप होती है और किसी को किसी के बोध से प्रगट होता है। अधिगमज और नैसर्गिक, दो प्रकार का सम्यग्दर्शन होता है।

तो जब अपने आप नहीं ख्याल में आवे और कोई ज्ञानी, वो विधि बतावे, इन्द्रियज्ञान पर विजय करने का, आहाहा! तो फ़रमाते हैं, इधर आचार्य भगवान कि जो भावेन्द्रिय प्रगट हो रही है, वो दोष है, गुण नहीं है। वो ही संसार का बीज है, दोष है। शास्त्रज्ञान प्रगट होता है, वो गुण नहीं है, दोष है। जो इन्द्रियज्ञान दोष है, तो क्या शुभभाव गुण हो सकता है? वो तो प्रगटरूप कषाय है। वो तो प्रगटरूप कषाय है। कषाय है, वो धर्म है कि अधर्म? बस! वहाँ झगड़ा होता है कि कषाय कहो, तहाँ तक तो वाँधा (परेशानी) नहीं। मगर न्याय की बात है ना। कषाय है, तो कषाय है, तो वो धर्म है कि अधर्म (है)?

वीतरागभाव तो नहीं है। समझे? वीतरागभाव है? नहीं है। तो वीतरागभाव धर्म है, तो राग अधर्म है (ऐसा) अपने आप आ गया। और वो अधर्म से मोक्षमार्ग प्रगट होता है? (नहीं होता।) आहाहा! तो कषाय का दर्शन करना बन्द कर दे। (कषाय) करना तो बन्द कर दे, तेरे स्वभाव में है ही नहीं। अभी कषाय का दर्शन करने का बन्द करने की वीधि, उसका नाम जितेन्द्रिय-जिन कहा जाता है।

क्रोध कषाय आया, भजन में बताया था, क्रोध भी उत्पन्न होता है और उपयोग भी प्रगट होता है। साथ में दो प्रगट होता है, ऐसा मोक्षमार्ग प्रकाशक में भी कहा। समयसार की २९४वीं गाथा में भी वो बात, आचार्य भगवान ने कही है। चैत्य-चेतकभाव एक समय में प्रगट होता है। चैत्य यानि क्रोध, चैत्य यानि ज्ञेय, और चेतक यानि ज्ञान। चैत्य-चेतकभाव एक समय में प्रगट होता है, मगर एकरूप होता नहीं है। उपयोग भी प्रगट होता है और क्रोध भी प्रगट होता है। राग प्रगट होता है। उस ही समय जो भेदज्ञान करे वो आत्मा कि, ये राग जानने में आया, राग जानने में आ रहा है, तो उसका नाम अज्ञान है। राग की कर्ताबुद्धि, वो तो प्योर अज्ञान है। उसमें तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता है। मगर राग जानने में आया, आहाहा! वो भी अज्ञान है क्योंकि राग को जानने के समय ज्ञान जानने में आ रहा था। मगर ज्ञान जानने में आया, वो भूल जाता है और राग जानने में आया। आहाहा! बहिर्मुखता हो गई। अभी ऐसी स्थिति अनंतकाल से चली आ रही है।

अभी वो इन्द्रियज्ञान का जीतना...जब जीतेगा आत्मा, तब एक अतीन्द्रियज्ञान नया प्रगट होता है। वो कैसे जीता जाए? कि जब राग जानने में आता है, तो धर्मात्मा फ़रमाते हैं कि ज्ञान में ज्ञानत्व भी है और ज्ञान में ज्ञेयत्व भी है। ज्ञान में ज्ञानत्व भी है और ज्ञेयत्व भी है और राग में अकेला ज्ञेयत्व है और ज्ञानत्व नहीं है। वो तो सीधी बात है। वहाँ तक तो हाँ आती है कि नहीं? बराबर? अच्छा! अभी जो ज्ञान में ज्ञानत्व है और ज्ञेयत्व है, तो ज्ञान में जो ज्ञेय है ज्ञान, अपने आप, वो तेरे को जानने में नहीं आता है? थोड़ा विचार कर। मेरी बात का ज़रा प्रयोग कर। जो फायदा हो, ये जांगड़ (वापस करने की शर्त देनेवाला) माल है मेरा। जांगड़ मिलता है ना, ये कपड़े की दुकानवाला जांगड़ देते हैं कि पाँच साड़ी ले जाओ, जो पसंद हो तो रख लेना। नहीं तो वापस दे देना। ऐसा हीरे के व्यापार में भी मैंने देखा, जांगड़ पेकेट देते हैं। ये हीरे के व्यापारी दो बैठे हैं, तुम्हारे पास, एक मधुभाई, शांतिभाई। आहाहा! तो ये आचार्य भगवान को खात्री (विश्वास) है, आचार्य भगवान को तो खात्री (विश्वास) है कि, मेरा माल वापस आनेवाला नहीं है। आहाहा! तो सच्चा ग्राहक वो माल खरीद लेता है।

ज्ञानी ने कहा कि तेरे ज्ञान में ज्ञानत्व है और ज्ञेयत्व है, तो ज्ञान में ज़रा ठहर कि राग जानने में आता है। ज़रा उसका लक्ष्य गौण कर, लक्ष्य छोड़ दे, वहाँ से लक्ष्य छोड़ दे। राग नहीं छोड़ना क्योंकि राग उसका कर्ता भी नहीं है, तो उसको त्यागता भी नहीं है। आहाहा! कर्ता हो, तो-तो राग का त्याग हो। पर कर्ता तो है ही नहीं। परिणाम का कर्ता तो (है ही नहीं)। परिणाम है। भले हो राग, मगर राग पर से तेरी दृष्टि हटा दे। राग जानने में आता है, दुःख जानने में आता है। सिर का दुखाव हुआ, पेट में दुखाव हुआ, आहाहा! दुःख जानने में आता है, वो दुखी हो जाता है। तेरे को दुःख जानने में नहीं आता है, सचमुच तो ज्ञान जानने में आता है, क्योंकि ज्ञान में ज्ञानत्व भी है और ज्ञेयत्व भी है। तो ज्ञेयत्व होने से, ज्ञान प्रति समय जानने में आ रहा है। जो इसमें ज्ञेयत्व न हो, तो-तो ज्ञान जानने में न आवे। वो तो

ठीक है! मगर दो धर्म युगपद् एक समय में है। एक समय में दो धर्म हैं।

तो आचार्य भगवान फ़रमाते हैं कि पहले इन्द्रियज्ञान से, मानसिकज्ञान से निर्णय तो कर कि, ज्ञान जानने में आ रहा है या राग जानने में आ रहा है? ज़रा ठहर! ठहरकर विचार कर, प्रयोग कर। तो उसने प्रयोग किया शिष्य ने (कि), आहाहा! मेरे को सचमुच तो ज्ञान जानने में आ रहा है। ज़रा टिका ज्ञान पर, वहाँ से लक्ष्य हट गया, इन्द्रियज्ञान का व्यय होकर अतीन्द्रियज्ञान प्रगट होता है। उनका नाम इन्द्रियज्ञान का जीतना है। पर्यायार्थिकचक्षु बंद हो गई। क्या कहा? शास्त्रीय भाषा। शास्त्रीय भाषा क्या है? कि जो राग को जानता था, वो उसने बंद कर दिया। यानि जब ज्ञान जानने में आता है, तब राग जानने में (नहीं आता)। तो तर्क करता है, कुतर्क। अज्ञानी बहुत कुतर्क करे कि भाई साहब! भले ज्ञान जानने में आवे, कोई तकलीफ़ नहीं। पर राग को जानने का बंद करने का क्यों कहते हो? क्योंकि स्वपरप्रकाशक है। समझ में आया? कुतर्क! कि ज्ञान को भी जानूँ और राग को भी जानूँ तो इसमें इन्द्रियज्ञान जीता जाएगा और अतीन्द्रियज्ञान प्रगट (हो जाएगा)। कभी नहीं होगा।

एक उपादेय है और एक हेय है। दो पर द्रष्टि जाएगी तो अनुभव नहीं होगा। तो सर्वथा बंद कर दे जानने का। तो जानने का सर्वथा बंद करेगा, तो अकेला स्वप्रकाशक ज्ञान होगा। शास्त्रीय भाषा ऐसी है कि पर्यायार्थिकचक्षु सर्वथा बंद किया तो अकेला उघड़ेला (खुले हुए), उघाड़ेला (खुले हुए) द्रव्यार्थिकचक्षु के द्वारा, अकेला ज्ञायक तत्त्व जानने में आता है। उस टाइम राग जानने में आता नहीं क्योंकि आत्मा में राग नहीं है। जो आत्मा में है, वो जानने में आता है। जो आत्मा में राग नहीं है, तो जानने में आता नहीं है। न्याय समझे?

जानना बंद हुआ इसका कारण क्या? कि ज्ञायक में राग नहीं है। इसलिये राग जानने में आया नहीं। ऐसे स्वप्रकाशक ज्ञान के अंदर अनुभूति होती है। बाद में, बाहर निकलता है, राग भी उत्पन्न होता है। यथाख्यात् चारित्र नहीं है, कमजोरी भी है और पर्याय की योग्यता भी थोड़ी, थोड़े काल तक रहती है। तो ज्ञान राग को जानता है, तो जाना हुआ प्रयोजनवान, अकेला राग को ज्ञान नहीं जानता है। पहले तो अकेला राग को जानता था। अनुभव के बाद अकेला राग को ज्ञान जानता नहीं है। उस ही समय राग जब जानने में आता है, उस ही समय ज्ञायक जानने में आ रहा है। वो स्वपरप्रकाशक ज्ञान, स्वपरप्रकाशक ज्ञान जानने में आता है। राग जानने में नहीं आता है। कहा जाता है कि राग को जाना।

फिर से, कि अनुभव में तो अकेला स्वप्रकाशक ज्ञान है। स्वप्रकाशक लक्षण से आत्मा लक्षित होता है, ऐसी नियमसार शास्त्र की शुद्धोपयोग अधिकार की १६५ गाथा है, घर जाकर देख लेना। और श्रुतज्ञान के द्वारा केवल शुद्धात्मा को जानता है, उसका नाम निश्चय से श्रुतकेवली है और शुद्धनय के द्वारा ही शुद्धात्मा का अनुभव होता है। सब जगह ये स्वप्रकाशक निकलता है। स्वप्रकाशकपूर्वक स्वपरप्रकाशक होता है। स्वप्रकाशक का जन्म नहीं होता है, तो सम्यक प्रकार से स्वपरप्रकाशक प्रमाण उत्पन्न होता नहीं है।

तो जब राग जाना हुआ प्रयोजनवान लिखा, वहाँ भी वो ज्ञान में आत्मा तो जानने में आ रहा है और प्लस, प्लस राग भी जानने में आता है। मगर ये राग को जानता है, ऐसा नहीं है। राग संबंधी और आत्मा संबंधी, ऐसी ज्ञान की पर्याय स्वपरप्रकाशक प्रगट होती है। वो ज्ञान की पर्याय को ज्ञान जानता

है। तो कहा जाता है कि राग को भी जाना, सचमुच तो ज्ञान को जानता है। आहाहा! विषय बदल गया। आहाहा!

पहले राग को जानता था, फिर भी राग को जाने ऐसा नहीं है, मगर उपचार से कहा जाता है, निमित्त देखकर। निमित्त देखकर ऐसा कहा जाता है कि राग को जानता है। सचमुच तो उस ज्ञान की पर्याय में द्विरूपता होती है। स्वपरप्रकाशक ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य, वो ज्ञान की पर्याय का सामर्थ्य जानने में आता है। आहाहा! ऐसे सविकल्पदशा में जाना हुआ प्रयोजनवान है। तो पहले तो, जब ये ज्ञान राग को जानना बंद करता है, तो ज्ञान अंतर्मुख होकर ज्ञायक को जान लेता है, उसका नाम जितेन्द्रिय-जिन कहा जाता है। वो बात फ़ज़ल में चली थी, फिर से अभी भी दोहराई है।

अभी भावेन्द्रिय का जीतना इसमें आया, ऐसा ४९वीं गाथा में भावेन्द्रिय का जीतना आता है। ३१ गाथा है ना, ये ४९ गाथा है। ४९ गाथा में भावेन्द्रिय की बात है। **अपने स्वभावकी दृष्टिसे देखा जाये तो**, त्रिकाल सामान्य चिदानंद आत्मा की दृष्टि से देखा जाए तो, पर्याय की दृष्टि बंद करके द्रव्यस्वभाव की ओर झुककर देखा जाये तो, आहाहा! **उसके** यानि आत्मा के **क्षयोपशमिक भावका भी अभाव होनेसे**, आहाहा! क्षयोपशमभाव आत्मा में नहीं है। त्रिकाली द्रव्य में क्षयोपशमभाव नहीं है। **होने से**, प्रश्न ही ऐसा है। परमार्थ जीव का स्वरूप पूछा है और उसका लक्षण क्या है? **होनेसे वह भावेन्द्रियके आलंबनसे भी रस नहीं चखता, इसलिए अरस है ।४।** द्रव्येन्द्रिय के आलंबन से तो रस का ज्ञान होता नहीं है। रस का ज्ञान नहीं होता है। मगर जहाँ जीभ है, द्रव्येन्द्रिय, वहाँ उसका उघाड़ भी एक है, भावेन्द्रिय। भावेन्द्रिय-क्षयोपशमज्ञान। वो क्षयोपशमज्ञान का ही अभाव है, इसलिए आत्मा, भावेन्द्रिय के द्वारा रस को जानता नहीं है। रस को जानने का साधन द्रव्येन्द्रिय तो है ही नहीं, मगर भावेन्द्रिय भी नहीं है। वह अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा को जानते-जानते रस को जान लेता है। आहाहा! बिना अनुभवी को ज़रा कठिन तो लगे। समझे? मगर वस्तुस्थिति तो ऐसी है। आहाहा!

भावेन्द्रियके आलम्बनसे भी रस नहीं चखता, इसलिये अरस है ।४। समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक रसेन्द्रिय के परिणामको पाकर रस नहीं चखता, इसलिए अरस है ।५। एक-एक इन्द्रिय को जाने, रस को और बीजा, दूसरे भाव को नहीं जाने, ऐसा आत्मा का स्वभाव नहीं है। युगपद् एक समय में जब अतीन्द्रियज्ञान से आत्मा को जाना, तो ऐसा श्रुतज्ञान का एक स्वभाव है, अतीन्द्रिय श्रुतज्ञान का। आहाहा! भावश्रुतज्ञान का ऐसा स्वभाव है (कि) जिसने आत्मा को जाना, उसने सब कुछ जान लिया। पाँच इन्द्रिय के विषय का भी एक को ज्ञान, ऐसा श्रीमद् राजचंद्र जी ने कहा है, पाँच इन्द्रिय के विषय का भी, एक को ज्ञान हो जाता है। आहाहा!

इन्द्रियज्ञान कमजोर है, अतीन्द्रियज्ञान बलवान है। वो तो केवलज्ञान का अंश, अव्यव है। आहाहा! ये श्रुतज्ञान में भूत, भविष्य, वर्तमान तीनकाल, तीनलोक के पदार्थ, उसमें प्रतिभासित होते हैं। इतनी (श्रुतज्ञान की) ताकत है। भले उपयोगात्मक न हो, प्रत्यक्ष-परोक्ष की तफ़ावत (अंतर में) है, भले। मगर सब ज्ञेय, ज्ञान में प्रतिभासित हो गए, भूत, भविष्य, वर्तमान (के)। चमत्कारिक बात है! भावश्रुतज्ञान की बात चमत्कारिक है। आहाहा! सहन न हो सके, ऐसी बात है। सहन समझे? पचा नहीं

सके, (ऐसी बात है)। आहाहा! हैं? अच्छा! भणकार (पीछे से आवाज़) आया कि पचेगा। खुले दिल से कह दो आज तो। हैं? आहाहा! इधर का पानी पाचक है। भाईसाहब बोलते हैं कि इधर का पानी पाचक है। तो श्रुतज्ञान की ताकत इतनी है कि तीनकाल, तीनलोक, भूत, भविष्य, वर्तमान के पदार्थ का, ये श्रुतज्ञान में प्रतिभास हो रहा है।

उसमें एक सैंतालीस (४७) नय हैं प्रवचनसार की। उसमें चौदहवें (नम्बर) की नय द्रव्यनय है। चौदहवीं एक द्रव्यनय है। तो नय का विषय निक्षेप होता है, श्रुतज्ञान है ना। तो उसका विषय, ज्ञेय का एक भाग, उसको निक्षेप कहा जाता है। तो वो श्रुतज्ञान में भूत की पर्याय, अपनी और पर की, भविष्य की पर्याय अपनी और पर की, कभी-कभी प्रत्यक्षवत् दिखाई देती है। ज्ञानी गंभीर है, कहे नहीं किसी को। ख्याल में आ जाए, ओहो! ये तो अल्पकाल में सिद्ध होने वाला है। आहाहा! ये तो चक्रवर्ती होनेवाला है। ये जीव तो तीर्थकर होनेवाला है। ऐसा श्रुतज्ञान में दूसरे जीव का भी ख्याल आ जाता है। आहाहा! ऐसा सब व्याख्यान भी छप गया है। गुरुदेव के व्याख्यान में है सब बात। गुरुदेव पर श्रद्धा रखनी चाहिए, ज्ञानी पर (श्रद्धा रखनी चाहिए)। आहाहा!

ऐसी श्रुतज्ञान की ताकत, एक समय के ज्ञान की ताकत और ज्ञान गुण की ताकत और गुणी परमात्मा की ताकत, इसकी तो बात क्या कहें? ओहोहो! एक श्रुतज्ञान की महिमा आवे ना तो (पूरी) आत्मा की महिमा आ जावे, कितनी शक्ति का पिंड है, सामर्थ्यवान आत्मा।

तो एक समय में, लिखते हैं आचार्य भगवान, **समस्त विषयोंके विशेषोंमें साधारण ऐसे एक ही एक ज्ञान की अतीन्द्रियज्ञान की पर्याय में सब जणित (जानने में आ) जाता है। संवेदनपरिणामरूप उसका स्वभाव होनेसे वह केवल एक, एक-एक रस को चखते, जानते नहीं हैं। सब को जान लेते हैं। रसवेदनापरिणामको पाकर रस को नहीं चखता, इसलिए अरस है ।५।**

(उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परंतु) समस्त ज्ञेयों लिखा। क्या लिखा? अनुभवी को समस्त ज्ञेयों का ज्ञान हो जाता है। उपयोगात्मक प्रतिभास वो अभी नहीं लेना। उपयोगात्मक नहीं है। उपयोगात्मक तो केवलज्ञान में प्रत्यक्ष है और उसको उपयोगात्मक कभी-कभी हो जाता है, तो ख्याल आ जाता है। ऐसे श्रीमद् राजचंद्रजी ने बन्दर बैठा था, बन्दर। बांदरा, क्या कहते हैं? बंदर। (कहा) उतावल (जल्दी) मत कर, मोक्ष जाने के लिए (अभी) देर है। यानि मोक्षगामी तो तू है। बन्दर को (कहा)। आहाहा! श्रुतज्ञान, कोई अचिन्त्य श्रुतज्ञान की आत्मज्ञान की ताकत है। तो इसमें लिखा है **(उसे समस्त ज्ञेयोंका ज्ञान होता है परंतु)** समस्त स्व-पर दोनों ही, दोनों ही।

सकल ज्ञेयज्ञायकके तादात्म्यका (-एकरूप होनेका) निषेध होनेसे रसके ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, इसलिए अरस है ।६। रस का ज्ञान हुआ, मगर ज्ञान रसरूप होता नहीं है, अरस है। रस का ज्ञान हुआ तो ज्ञान खट्टा हो गया, ऐसा है नहीं। रस का ज्ञान उसकी स्वच्छता है। वो ज्ञेय है, इधर ज्ञान है। रस का ज्ञान हुआ, तो भी ज्ञान खट्टा होता (नहीं है), यानि अरसरूप रहता है। रसरूप होता नहीं है। रस का ज्ञान होने पर भी रस के साथ, ज्ञान का अनन्य तादात्म्य संबंध नहीं होने से, नहीं होने से, ज्ञान रसरूप होता नहीं है। आहाहा! माल भरा है, मालामाल है इसमें तो। जिसकी जितनी शक्ति, उतना वो समयसार में से निकाल सकता है। उसके

ऊपर व्याख्यान निकल चुके हैं, ग्यारह भाग। ग्यारह भाग (निकल चुके हैं)। ३१ भी, ४९ गाथा सब निकल चुका है। अभी ये भावेन्द्रिय का जीतना हो गया।

अभी तीसरा बोल है। भावेन्द्रिय का जो विषय है, उसको जीतने की बात है। **ग्राह्यग्राहक, ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले संबंधकी निकटताके** ग्राह्य और ग्राहक, ज्ञाता और ज्ञेय, ज्ञाता और (ज्ञेय), जाननेवाला और वो जणित (जानने में आ) जाता है, ज्ञेय। **ग्राह्यग्राहकलक्षणवाले**, ग्राह्य, ग्राहक लक्षण तो आत्मा का है और ग्राह्य लक्षण ज्ञेय का है। ज्ञेय और ज्ञायक, ज्ञाता और ज्ञेय, इधर ज्ञाता है और वो ज्ञेय है। ऐसे **संबंधकी निकटताके कारण** निकट है। ज्ञाता और ज्ञेय निकटवर्ती है, एक पदार्थ नहीं है। आहाहा! निकट का ही अर्थ (है कि) दोनों भिन्न-भिन्न हैं। निकट का अर्थ क्या? आहाहा! निकट शब्द का द्योतक है भिन्न-भिन्न। **निकटताके कारण जो अपने संवेदन (अनुभव) के साथ परस्पर एक जैसे हुए दिखाई देते हैं**, दिखाई देती है। ज्ञेय और ज्ञान एक होता नहीं (है)। एक निकट है ना। निकट है तो एक जैसा दिखाई देता है। आहाहा!

जैसे क्रोध और ज्ञान, ज्ञान तो ज्ञायक है और क्रोध ज्ञेय है, अति निकट दिखाई देता है। **तो भी ऐसे, भावेन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण किये हुये**, जो इन्द्रियज्ञान में जो पदार्थ ज्ञेय जानने में आया, अति निकट है, एक जैसे लगता है तो **किये हुये**, जो **इन्द्रियोंके विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको**, इन्द्रिय का जो विषय है स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्द, पाँच इन्द्रिय का विषय, **विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको**, **अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आनेवाली**, आहाहा! ज्ञेय और ज्ञाता और ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय, जो निकटवर्ती है, उसका संबंध तोड़ता है, आत्मा।

क्या कहा? ये ज्ञाता और क्रोधादि ज्ञेय, देहादि ज्ञेय, ऐसा निकटवर्ती संबंध होने पर भी, जब **विषयभूत स्पर्शादि पदार्थोंको**, **अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव अनुभवमें आनेवाली**, असंगताके द्वारा असंग है आत्मा। आत्मा असंगी होने से वो क्रोध के संग, उसमें आता नहीं है। आहाहा! आत्मा असंगी है, इन्द्रियज्ञान संग वाला है। क्या कहा? इन्द्रियज्ञान तो संग वाला है। मगर भगवान आत्मा है, वो तो असंगी है परमात्मा, **अपनी चैतन्यशक्तिकी स्वयमेव**, आहाहा! स्वयमेव शब्द बहुत आता है। आहाहा! अपने आप। स्वयमेव अर्थात् अपने आप। आहाहा! **अनुभवमें आनेवाली**, यानि जानने में आने वाली **असंगताके द्वारा सर्वथा अपनेसे अलग किया**; आहाहा!

जो ज्ञाता-ज्ञेय के संबंध से ज्ञेय-ज्ञायक का संकरदोष आता था, ज्ञेय और ज्ञायक भिन्न-भिन्न होने पर भी भेदज्ञान का अभाव होने से, ज्ञेय और ज्ञायक एकमेक लगता था-संकरदोष, एकत्व, खिचड़ी। आहाहा! दो पदार्थ साथ में मिलते हैं तो खिचड़ी नाम आता है ना। मूँग की दाल का नाम भी गया और चावल का नाम भी गया। ज्ञेय भी गया और ज्ञायक भी गया और मिथ्यादृष्टि हो गया, खिचड़ी हो गई। आहाहा! खिचड़ी में भी स्वाद तो जुदा-जुदा है। मगर खिचड़ी की गृद्धिवाला है ना, उसको चावल का स्वाद जुदा और मूँग की दाल का स्वाद जुदा, उसका भेद ख्याल में आता नहीं है। आहाहा!

ऐसे **असंगताके द्वारा सर्वथा अपने से अलग किया**; सर्वथा यहाँ तीनों में सर्वथा आया, द्रव्येन्द्रिय (भी) सर्वथा जुदा, भावेन्द्रिय (भी सर्वथा) जुदा जाना और इन्द्रियज्ञान का जो विषय, वो भी सर्वथा जुदा। वो जुदा कब जानने में आता है? कि जब चैतन्य शक्ति की ओर दृष्टि जाती है, मैं तो

असंगी हूँ। आहाहा! ज्ञेय के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है। असंगी परमात्मा हूँ तो विषयभूत पदार्थोंको जीतना हुआ।

इसप्रकार जो (मुनि), मुनि की मुख्यता से कोष्ठक में किया (लिखा) है, बाकी तो मिथ्यादृष्टि के लिए है। मुनि शब्द आया ना, कोष्ठक किया है। **द्रव्येंद्रियों** क्योंकि मुनि को इन्द्रिय-जीत तो चौथे गुणस्थान में होती है। मुनि के लिए तो ये भावक-भाव का जीतना और भावक-भाव का क्षय होना, वो ३२ और ३३ गाथा अलग है। इधर तो मिथ्यादृष्टि को इन्द्रियज्ञान जीतने से मोह का नाश होता है, वो बात है। तो **द्रव्येंद्रियों और भावेन्द्रियों तथा इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थोंको (तीनोंको) जीतकर,** यानि उसका लक्ष्य छोड़कर...**जीतना** इसका अर्थ क्या किया? कि अपनापन मानता था और अपनापन आया अतीन्द्रियज्ञानमय परमात्मा में, तो इन्द्रियज्ञान में अपनापन छूट गया और इन्द्रियज्ञान के विषय में भी अपनापन छूट जाता है। इन्द्रियज्ञान रह गया, द्रव्येंद्रिय रह गई, उसका विषय भी भले रहा, मगर मैं-पने की बुद्धि छूट गई, ममत्व छूट जाता है। जीतना क्या? **जीतकर, ज्ञेयज्ञायक-संकर नाम का दोष आता था।**

ज्ञेय और ज्ञायक। ज्ञायक तो अतीन्द्रिय ज्ञानमय आत्मा और ज्ञेय का तीन विभाग, द्रव्येंद्रिय ज्ञेय, भावेन्द्रिय ज्ञेय और भावेन्द्रिय का विषय ज्ञेय, तीनों ज्ञेय और एक ज्ञायक, उसको एकत्व ज्ञेय-ज्ञायक का संकरदोष आता था। एकत्वबुद्धि, एकपने की मान्यता आती थी, उसको **जीतकर ज्ञेयज्ञायक-संकर नामक दोष आता था सो सब दूर होनेसे,** आहाहा! एकत्वबुद्धि छूट जाती है। आहाहा! ज्ञायक रह जाता है, ज्ञायक का ज्ञान भी रह जाता है, इन्द्रियज्ञान भी रह जाता है, द्रव्येंद्रिय भी रहती है, थोड़े टाइम तक। आहाहा! वो तो अपने-अपने स्वरूप में है, हमारे स्वरूप में आता नहीं है।

सो सब दूर होनेसे एकत्वमें एकत्वमें टंकोत्कीर्ण, मैं तो एक परमात्मा हूँ। टंकोत्कीर्ण यानि अनादि-अनंत जैसा हूँ, वैसा और वैसा मैं रहा। उसमें कोई वध-घट (बढ़ना और घटना) होती नहीं है। निगोद में कोई शुद्धि घटती नहीं है, द्रव्यस्वभाव की शुद्धता घटती नहीं है और मोक्ष हो तो बढ़ती भी नहीं है। आहाहा! बढ़ना-घटना वो मेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा! वो तो पर्याय का स्वभाव है और पर्याय मेरा स्वरूप नहीं है।

एकत्वमें टंकोत्कीर्ण और ज्ञानस्वभावके द्वारा, ज्ञानस्वभाव के द्वारा, **सर्व अन्यद्रव्योंसे,** सर्व अन्य द्रव्यों से, **परमार्थसे भिन्न,** खरेखर (वास्तव में) भिन्न **ऐसे अपने आत्माका अनुभव करता है।** आहाहा! अधिक जाने आत्मा को, आया था ना। आहाहा! वो, अधिक यानि जुदा, सब परपदार्थ भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से जुदा। भावकर्म में भावेन्द्रिय ले लेना, भावकर्म में भावेन्द्रिय ले लेना। ये कर्मधारा है, ज्ञानधारा नहीं है। आहाहा! **आत्माका अनुभव करता है वह निश्चयसे जितेन्द्रिय जिन है।** आहाहा! चतुर्थ गुणस्थान में हिरण, देड़का, गाय, भैंस, तिर्यच जितेन्द्रिय-जिन हो गया, लघुनंदन हो गया परमात्मा का। आहाहा!

लोगों को सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं है। आहाहा! चारित्र का स्वरूप जानते नहीं है। सम्यग्दर्शन की कीमत नहीं है और यथार्थ चारित्र का स्वरूप क्या है, वो जानते नहीं है और कषाय की मंदता को चारित्र मानते हैं। कषाय की मंदता तो धर्म है कि अधर्म? अरे! अधर्म मत कहो, व्यवहारधर्म

कहो। क्या कहा? व्यवहारधर्म कहो तो ठीक लगे हमको। समझे? व्यवहारधर्म का जन्म अनुभव के बाद होता है। व्यवहारधर्म नाम पाता है अनुभव के बाद, पहले तो अधर्म ही है। आहाहा! धर्म का वीतरागभाव उसमें नहीं है। शुभभाव क्या वीतरागभाव है? आहाहा! जो बंध का कारण है, वो मोक्ष का कारण होता नहीं है। आस्रवतत्त्व है, संवरतत्त्व नहीं है। आहाहा! शुभराग है ना, वो तो भैया आस्रवतत्त्व है। उसमें तो दुःख ही दुःख है, उसमें कोई आनंद आता नहीं है। आहाहा! जो शुभभाव है ना, वो वीतरागभाव होता (नहीं है), उसमें आनंद आता (नहीं है)।

देखो! मैं एक दृष्टांत दूँ। भगवान की पूजा में बैठे, भगवान की पूजा में बैठता है। तो आधा घंटा हुआ, घंटा हुआ, कोई दो घंटा बैठे, बाद में कंटाला आता है। कंटाला क्यों आता है? धर्म में कंटाला आता नहीं है। आहाहा! अधर्म भाव में दुःख ही है इसलिये कंटाला आता है। छोड़ देता है, दुकान में चला जाता है। दुकान में कंटाला आता है तो T.V. में (चला) जाता है। आहाहा! पराश्रित भाव में एकान्त दुःख है भैया! और स्वाश्रित संवर-निर्जरा में सुख ही सुख है। आहाहा! समझ में आया कुछ? आहाहा! ठीक है! तू धर्म मानता है।

एक दफ़े ऐसा हुआ कि एक भाई ने कहा कि मेरे को तो लड्डू खाने में सुख है। समझे? तो अच्छा! मेरे घर जीमने आना, लड्डू खाने में सुख है ना। ऐसा तो बोले की लड्डू खाने में सुख नहीं है, तो माने ही नहीं, तो-तो माने ही नहीं। (घर पर) जीमने को बुलाया। लड्डू परोसा, एक लड्डू, दो लड्डू, तीन लड्डू आँ...नहीं नहीं। क्यों लड्डू खाने में सुख है तो खाया कर ना। तेरे लिए सौ लड्डू बनाया है, तेरे लिए सौ लड्डू बनाया है। बस, दो लड्डू में थक गया तू? आहाहा!

बाद में लड़के ने कहा कि मेरे को तो सिनेमा देखने में बहुत सुख लगता है। अच्छा! तो पिताजी ने कहा, अच्छा! तो एक साथ तीन शो का टिकिट ले ले। तीन-तीन, नौ घंटे का। समझ गए? टिकिट मँगवाया, लड़का गया। तीन घंटे के बाद वापस आया कि पिताजी मेरे को तो कंटाला आ गया। जो देखने में, सिनेमा देखने में, पिक्चर देखने में सुख हो, तो सुख कोई छोड़ता नहीं है और दुःख सहन होता नहीं है, इसलिए वापस आता है। आहाहा!

ज्ञेय के सन्मुख से कभी तीनकाल में सुख होता नहीं है। निमित्त के लक्ष्य से सुख होता नहीं है। शुद्धात्मा के, उपादान के लक्ष्य से सुख होता है और कंटाला आता नहीं है। सिद्ध भगवान क्यों नीचे नहीं आते हैं? आहाहा! कि स्वाभाविक भाव में कभी दुःख होता नहीं है। आहाहा!

मुनिराज जंगल में साधना करते हैं, बहुत प्रतिकूलता हो, तो भी सुखी हैं, तो भी सुखी हैं। क्योंकि आत्माश्रित आनंद का भोजन करते हैं। इतनी आनंद की मस्ती हो जाती है कि एक दिन, दो दिन, तीन दिन, चार दिन चले जाए, आहार की इच्छा (भी) नहीं होती है। आहार की (इच्छा नहीं होती)। आहाहा! इसका नाम चारित्र है, तप है। इच्छा निरोध तप है। आहाहा! परिणाम पर बलात्कार करता है जीव, तो कर्ताबुद्धि डबल हो जाती है। आहाहा! सहज का धंधा है, वो तो। आहाहा! तो कहें तो आप सब बचाव करते हैं। अरे! बचाव की बात नहीं है, वो स्थिति की बात है। तो **जितेन्द्रिय-जिन है।**

(ज्ञानस्वभाव अन्य अचेतन द्रव्योंमें नहीं है), अचेतन द्रव्य में तो ज्ञान नहीं है (इसलिए उसके द्वारा आत्मा सबसे अधिक, भिन्न ही है)। कैसा है यह ज्ञानस्वभाव? कैसा है? इस विश्वके

(समस्त पदार्थोंके) ऊपर तिरता हुआ, (उन्हें जानता हुआ भी उनरूप न होता हुआ), ज्ञेय ज्ञान में जानने में आ जाता है मगर ज्ञेयरूप होता नहीं है। ज्ञान, ज्ञानरूप रहता है ज्ञेय, ज्ञेयरूप होता है। ज्ञान अपने स्थान में है, ज्ञेय अपने स्थान में है। ज्ञेय, ज्ञान के सन्मुख नहीं होता है। ज्ञेय आत्मा के ज्ञान में आता नहीं है। अपने-अपने स्थान में होने पर, आहाहा! ज्ञान की ताकत तो कोई अपूर्व है।

विश्वके ऊपर तिरता हुआ, प्रत्यक्ष उद्योतपनेसे सदा अंतरंगमें प्रकाशमान, सदा अंतरंग में प्रकाशमान...सदा हों! भगवान आत्मा, **अविनश्वर**, पर्याय नाशवान है, आत्मा अविनाशी है, **स्वतःसिद्ध** आत्मा परत्व सिद्ध नहीं, स्वतः सिद्ध है। कोई कहता है कि पाँच निकलें अपने अग्नि, वायु (आदि) तो जीव बन जाएगा। ऐसी-ऐसी गप्पा मारता है। आहाहा! **स्वतःसिद्ध**। आहाहा! सब गप्पा है। गप्पा मारनेवाला भी बहुत और हाँ में हाँ मिलानेवाला भी, मूर्ख भी बहुत है। झुकनेवाले बहुत हैं और झुकानेवाले भी बहुत है। हाँ में हाँ करता है, ऐसे, शुभभाव से धर्म होता है। भैया! आहाहा! हाँ में हाँ मिलाता है। शुभभाव कषाय है? हाँ! कषाय तो है। कषाय है, तो कषाय से धर्म होता है कि वीतरागभाव से? तो-तो पीछे हटे, पाँछा फिरे यानि क्या? अपनी श्रद्धा को (पलटे)। आहाहा! कि मेरी भूल हो गई थोड़ी। आहाहा!